[५]

ध्यान : स्वरूप-विश्लेषण

ध्यान की आवश्यकता :

संसार के साधारण प्राणी का मन निरन्तर इतस्ततः इतना गतिशील रहता है कि वह क्षण-पल में ही त्रिलोकी की यात्रा कर लेता है। बस्तुतः उसकी गति, शब्द, वायु और विद्युत् से भी अतीव द्रुततर है। मन की इस असीम चंचलता से प्राणी अपना सही स्वरूप भी नहीं जान सकता, पर-पदार्थों को रमणीय समझकर उनकी प्राप्ति के लिये लालायित रहता है। पौद्गलिक होने के कारण उसका अपने सजातीय विषय-कषाय की ओर यह आकर्षण होना सहज भी है। जिस प्रकार एक अशिक्षित बालक मिट्टी में खेलने का शौकीन होने के कारण मिट्टी में खेलते हुए साथियों को देखते ही उनकी ओर दौड़ लगाता है, ठीक उसी प्रकार मन भी पौद्गलिक होने के कारण शब्दादि विषयों की ओर सहज ही आकृष्ट होता रहता है। वह इन्द्रियों के माध्यम से शब्द, रूप, रस, गन्ध व नाना प्रकार के सुखद सुरम्य स्पर्शादि को जानता, पहिचानता एवं स्मरण करता हुआ अनुकूल की चाह और प्रतिकूल के विरोध व परिहार में मानव को सदा परेशान करता रहता है। जब तक उसकी चाह पूर्ण नहीं हो जाती, तब तक वह राग से आकुल-व्याकुल हो आर्त्तध्यान करता और इष्ट प्राप्ति में बाधक को अपना विरोधी समझ उससे द्वेष कर रौद्र रूप धारण करता है।

इस प्रकार राग-द्वेष की आकुलता से मानव-मन सदा अशान्त, क्षुब्ध और दुःखी रहता है। इस चिरकालीन अशान्ति को दूर करने हेतु मन की गति को मोड़ना आवश्यक माना गया है। कारण कि इष्टा-निष्ट की ओर मन का स्थिर होना तो अधोमुखी जल प्रपात की तरह सरल है, किन्तु इष्टानिष्ट की चिन्ता रहित मानसिक स्थिरता व स्वस्थता के लिये ध्यान-साधन की आवश्यकता होती है।

ध्यान का स्वरूप और व्याख्या :

विषयाभिमुख मन को विषयों से मोड़कर स्वरूपाभिमुख करने की साधना का नाम ही योग अथवा ध्यान है।

ध्यान वह साधना है, जो मन की गति को अधोमुखी से ऊर्ध्वमुखी एवं बहिर्मुखी से अन्तर्मुखी बनाने में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। जैन

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

शास्त्रों में इसको आन्तरिक तप माना है। ध्यान के बल से विचारों में शुद्धि होती और उनकी गति बदलती है।

ध्यान की दो दशाएँ हैं—प्रथम साधना और दूसरी सिद्ध दशा। साधना दशा के लिये आचार्यों ने आहार-विहार, संग और स्थान की अनुकूलता आवश्यक मानी है। उत्तराध्ययन सूत्र में कहा है कि समाधि का भी श्रमण प्रमाणयुक्त और निर्दोष आहार ग्रहण करे, गुणवान् मित्र को सहायक बनावे और एकान्त शान्त स्थान पर साधना करे।[1] इसका कारण यह है कि आहार-विहार एवं संग शुद्धि से तन-मन शान्त और स्वस्थ रहता है, जिससे ध्यान की साधना सरलता से होती है, कहा भी है—

युक्ताहार विहारस्य, युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्त स्वप्नावबोधस्य, योगो भवति दुःखहा ।।

अर्थात् उचित आहार-विहार, साध्य के अनुकूल कार्य-सिद्धि हेतु चेष्टाओं एवं उचित निद्रा तथा जागरण से साधना दुःख दूर करने वाली होती है। साधनाकाल में ध्यानी के लिये इन साधनों की ओर ध्यान रखना आवश्यक है।

आचार्य हरिभद्र ने भावना, चिन्ता, अनुप्रेक्षा और ध्यान—इस प्रकार ध्यान के चार भाग किये हैं। उन्होंने मित्रा, तारा आदि आठ दृष्टियों का भी विचार किया है। आचार्य शुभचन्द्र और हेमचन्द्र ने पार्थिवी, आग्नेयी आदि पाँच धारणाओं का उल्लेख कर पिण्डस्थ, पदस्थ आदि ध्यान के चार भेद किये हैं। पर आगम साहित्य में इनका वर्णन नहीं मिलता। जैनागम, स्थानांग और भगवती सूत्र में धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान के सोलह-सोलह भेद बतलाये हैं। हारिभद्रीय वृत्ति में ध्यान का विशद वर्णन किया गया है। उसमें लक्षण और आलम्बन को भी ध्यान के भेद रूप में बताया गया है।

वैदिक परम्परा में जहाँ आरम्भ से ही 'चित्तवृत्ति-निरोध' को योग या ध्यान माना है, वहाँ जैन शास्त्रों में ध्यान का आरम्भ चित्तवृत्तियों का सब ओर से निरोध कर किसी एक विषय पर केन्द्रित कर उस पर चिन्तन करना माना है।

प्राचीन समय के साधु और श्रावक रात्रि के प्रशान्त वातावरण में धर्म-जागरण किया करते थे। उसमें अनवरत शुभ चिन्तन के माध्यम से मन की

१, आहारमिच्छेमियमेसणिज्जं, सहाय मिच्छे निउणट्ठ बुद्धि।
निकेयमिच्छेज्ज विवेग जोग्गं, समाहिकामे समणे तवस्सी ।। ४ ।।
—उत्तराध्ययन सूत्र, अध्याय ३२

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

रुचि को बदलने का मनोयोग के साथ पूर्ण प्रयास किया जाता और इस प्रक्रिया से मन की रुचि को बदल दिया जाता था। मन की रुचि बदलने से सहज ही दूसरी ओर से मन की गति रुक जाती और इसके फलस्वरूप साधक को अनिर्वचनीय आनन्द और शान्ति की अनुभूति होती। मन की गति में सहज स्थिरता और निर्मलता लाना, यही सहज ध्यान है। इसी को राजयोग कह सकते हैं।

अतः परमतत्त्व के चिन्तन में तल्लीनता मूलक निराकुलस्थिति को प्राप्त कराने वाला ध्यान ही यहाँ इष्ट है। उसके अधिकारी वे ही जीव होते हैं, जो मंदकषायी, जितेन्द्रिय और ज्ञानी हैं। वे ही योग्य ध्याता तथा परम तत्त्व एवं उसकी प्राप्ति का उपाय ही ध्येय और ध्येय के चिन्तन में चित्त की निराकुल स्थिति एवं एकाग्रता की साधना को ही ध्यान समझना चाहिये।

ध्यान की विविध पद्धतियां :

व्यवहार पक्ष में आजकल जो चार्ट पर काली बिन्दु या ओ३म आदि के निशान बनाकर ध्यान लगाया जाता है, वह भी ध्यान का एक प्रकार है। अभ्यास के लिये ऐसी अन्य भी विविध पद्धतियां हैं। इच्छा शक्ति के विविध चमत्कार भी ध्यान के ही प्रतिफल हैं।

शास्त्रीय परम्परा में जैसे आज्ञा विचय आदि चिन्तन के प्रकार और पदस्थ, पिंडस्थ आदि ध्यान के जो प्रकार प्रस्तुत किये गये हैं उनके अतिरिक्त कुछ आचार्यों ने कुण्डलिनी जागरण के मार्ग से तो दूसरे ने अनहद नाद श्रवण से मन को स्थिर करना बतलाया है। कुछ अनुभवियों ने संसार व्यवहार में उदासीन भाव से रहने के अभ्यास को चित्त की स्थिरता का साधन माना है। व्यवहार में एक अन्य सरल मार्ग अपनाया जाता है, जिसे शरीर और मन को शिथिल कर सुखासन से बैठना या शयनासन से लेटना भी विचार के जंजालों से मुक्त कर समाधि पाने का उपाय माना है। ये सब अभ्यास काल में साधना के प्रकार मात्र ही हैं। स्थायित्व तो वैराग्य भाव की दृस्टि से चित्त शुद्धि होने पर ही हो सकता है। इसलिये ध्यान के लिए ध्यान-साधना के पश्चात् चिन्तन रूप, एकाकी, अनित्य, अशरण आदि चार भावनाओं का चिन्तन आवश्यक माना गया है।

ध्यान की प्राथमिक भूमिका :

ध्यान के विषय में विचार करने के लिए ध्याता, ध्येय और ध्यान इन तीन बातों का ज्ञान करना आवश्यक होगा। संसार का प्रत्येक प्राणी अपने प्रिय कार्य अथवा पदार्थ में ध्यानशील होता रहा है। कामी का काम्य पदार्थ में, भोगी का

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

चतुर्थ गुणस्थान से सप्तम गुणस्थान तक साधक धर्म ध्यान का ही अधिकारी माना गया है। छद्मस्थ द्वारा किया जाने वाला इस प्रकार का धर्म ध्यान सविकल्प होते हुए भी निवात स्थान में रखे हुए दीपक की लौ के समान निष्कम्प, निश्चल एवं उसी वस्तु के चिन्तन की परिधि में अडोल होता है।

इस धर्म ध्यान के ४ भेद बताये गये हैं। यथा :—

आप्तवचनं प्रवचनमाज्ञा विचयस्तदर्थ निर्णयनम्।
आश्रव विकथः गौरव, परीषहाद्यैरपायस्तु ॥ १ ॥
अशुभ शुभकर्मपाकानुचिन्तनार्थो विपाकः विचयः स्यात्।
द्रव्य क्षेत्राकृत्यनुगमनं संस्थान विचयस्तु ॥ २ ॥

—स्थानांग टीका, स्थान ४, उद्देशा १

अर्थात्—(१) आणा विजए—आज्ञा का विचार, (२) अवाय विजए—दोष का विचार, (३) विवाग विजए—कर्म के शुभाशुभ फल का विचार और (४) संठाण विजए—लोक संस्थान का विचार, ये धर्म ध्यान के शास्त्रीय चार प्रकार हैं।

ध्यान का प्रारम्भ :

ध्यान का प्रारम्भ भावनाओं से होता है। भावनायें चार प्रकार की हैं। (१) एकाक्यनुप्रेक्षा—अर्थात् एकाकी भावना। इस एकाकी भावना में एकत्व की भावना का इस प्रकार चिन्तन लिया जाता है :—

एकोऽहं न च मे कश्चित्, नाहमण्यस्य कस्यचित्।
न तं पश्यामि यस्याहं नासौ भावीति मो मम् ॥ १ ॥

अर्थात् मैं एक हूँ। कोई अन्य ऐसा नहीं है, जिसे मैं अपना कह सकूँ और न मैं स्वयं भी किसी का हूँ। मुझे संसार में ऐसा कोई दृष्टिगोचर नहीं होता। जितना कि मैं कहा जा सकूँ अथवा जिसको मैं अपना कह सकूँ। मैं स्वयं ही अपने सुख-दुःख का निर्माता हूँ। एकत्वानुप्रेक्षा अर्थात् एकाकी भावना में इस प्रकार आत्मा के एकाकीपन और असहाय रूप का विचार (चिन्तन) किया जाता है।

(२) दूसरी भावना है—अनित्यानुप्रेक्षा—अर्थात् शरीर, संपदा आदि की अनित्यता की भावना। इस दूसरी भावना में शरीर और सम्पत्ति आदि की क्षणभंगुरता एवं अनित्यता पर चिन्तन करना चाहिये कि शरीर के साथ रोग

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

चतुर्थ गुणस्थान से सप्तम गुणस्थान तक साधक धर्म ध्यान का ही अधिकारी माना गया है। छद्मस्थ द्वारा किया जाने वाला इस प्रकार का धर्म ध्यान सविकल्प होते हुए भी निवात स्थान में रखे हुए दीपक की लौ के समान निष्कम्प, निश्चल एवं उसी वस्तु के चिन्तन की परिधि में अडोल होता है।

इस धर्म ध्यान के ४ भेद बताये गये हैं। यथा :—

आप्तवचनं प्रवचनमाज्ञा विचयस्तदर्थं निर्णयनम्।
आश्रव विकथः गौरव, परीषहाद्यैरपायस्तु ।। १ ।।

अशुभ शुभकर्मपाकानुचिन्तनार्थो विपाकः विचयः स्यात्।
द्रव्य क्षेत्राकृत्यनुगमनं संस्थान विचयस्तु ।। २ ।।

—स्थानांग टीका, स्थान ४, उद्देशा १

अर्थात्—(१) आणा विजए—आज्ञा का विचार, (२) अवाय विजए—दोष का विचार, (३) विवाग विजए—कर्म के शुभाशुभ फल का विचार और (४) संठाण विजए—लोक संस्थान का विचार, ये धर्म ध्यान के शास्त्रीय चार प्रकार हैं।

ध्यान का प्रारम्भ :

ध्यान का प्रारम्भ भावनाओं से होता है। भावनायें चार प्रकार की हैं। (१) एकाक्यनुप्रेक्षा—अर्थात् एकाकी भावना। इस एकाकी भावना में एकत्व की भावना का इस प्रकार चिन्तन लिया जाता है :—

एकोऽहं न च मे कश्चित्, नाहमण्यस्य कस्यचित्।
न तं पश्यामि यस्याहं नासौ भावीति मो मम् ।। १ ।।

अर्थात् मैं एक हूँ। कोई अन्य ऐसा नहीं है, जिसे मैं अपना कह सकूँ और न मैं स्वयं भी किसी का हूँ। मुझे संसार में ऐसा कोई दृष्टिगोचर नहीं होता। जितना कि मैं कहा जा सकूँ अथवा जिसको मैं अपना कह सकूँ। मैं स्वयं ही अपने सुख-दुःख का निर्माता हूँ। एकत्वानुप्रेक्षा अर्थात् एकाकी भावना में इस प्रकार आत्मा के एकाकीपन और असहाय रूप का विचार (चिन्तन) किया जाता है।

(२) दूसरी भावना है—अनित्यानुप्रेक्षा—अर्थात् शरीर, संपदा आदि की अनित्यता की भावना। इस दूसरी भावना में शरीर और सम्पत्ति आदि की क्षणभंगुरता एवं अनित्यता पर चिन्तन करना चाहिये कि शरीर के साथ रोग

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

का अपाय है। सम्पदा आपद् का स्थान है, संयोग वियोग वाला है। जो उत्पन्न होता है, वह सब क्षणभंगुर नाशवान् है।

(३) तीसरी भावना है—अशरणानुप्रेक्षा अर्थात् अशरण की भावना। यथा।—

जन्मजरामरणभयै-रभिद्रुते व्याधि वेदना ग्रस्ते।
जिनवरवचनादन्यत्र; नास्ति शरणं क्वचिल्लोके।।

अर्थात्—जन्म, जरा, मरण के भय से अति वीभत्स, व्याधि और वेदना से संयुक्त एवं संत्रस्त इस असार संसार में जिनवाणी के अतिरिक्त और कोई अन्य इस आत्मा को शरण देनेवाला एवं इसकी रक्षा करने वाला नहीं है।

(४) चौथी संसारानुप्रेक्षा अर्थात् संसारभावना में निम्नलिखित रूप से संसार के सम्बन्ध में चिन्तन किया जाता है :—

माता भूत्वा दुहिता, भगिनी भार्या च भवति संसारे।
व्रजति सुतः तितृत्वं, भ्रातृतां पुनः शत्रुतां चैव।।

संसारानुप्रेक्षा में इस प्रकार की भावना से चिन्तन किया जाता है कि जीव एक जीव की माता बन कर फिर उसी जीव की पुत्री के रूप में जन्म ग्रहण करता है। फिर कालान्तर में वह उस जीव की बहन के रूप में और पुनः भार्या के रूप में जन्म ग्रहण करता है। इस संसार में पुत्र कभी जन्मान्तर में पिता के रूप में, तदनन्तर भाई के रूप में और कभी किसी जन्मान्तर में शत्रु के रूप में उत्पन्न होता है। इस प्रकार संसार का कोई नाता अथवा सम्बन्ध स्थिर एवं शाश्वत नहीं है। संसार के सभी सम्बन्ध बदलने वाले हैं, अतः किसी के साथ मोह अथवा ममता के बन्धन में बन्ध जाना सिवा मूर्खता के और कुछ नहीं है।

इस प्रकार की इन एकाकी, अनित्य आदि भावनाओं से तन, धन, वैभव आदि को नाशवान और अशरण भावना द्वारा इनकी अवश्यंभावी विनाश से बचाने में असमर्थ समझने पर, भला बालू की दीवार पर गृह निर्माण की तरह उनकी कोई भी ज्ञानी क्यों चाह करेगा ?

इस तरह संसार के पदार्थों से मोह कम होने पर मन की दौड़ भी स्वतः ही कम और शनैः शनैः समाप्त हो जायगी। मन की चंचलता कम करने का यह पहला उपाय है।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

मन की चंचलता कम करने के पश्चात् आगे की दूसरी प्रक्रिया यह है कि एकत्व भाव, संवर, निर्जरा, धर्म एवं बोधि भाव से मन को परिष्कृत करते हुए यह समझाया जाय कि ओ मन ! तेरी श्रद्धा के योग्य इस संसार में केवल एक आत्मदेव के अतिरिक्त और कोई नहीं है। आत्मा और तदनुकूलवृत्ति ही उपादेय एवं हितकर है। मन को यह समझाकर उसे पर-द्रव्य से मोड़ कर आत्मनिष्ठ बनाया जाता है। ज्ञान-बल से सांसारिक (इहलौकिक) पदार्थों को आत्मा से भिन्न पर एवं नश्वर समझ लेने से उनकी ओर का सारा आकर्षण समाप्त हो जाता है। यह ध्यान साधना की पहली कक्षा अथवा भूमिका है।

ध्यान साधना की दूसरी भूमिका में चिन्तन किया जाता है—"किं मे कडं किं च मे किच्च सेसं ?" अर्थात् मैंने क्या-क्या कर लिया है और मुझे क्या-क्या करना अवशिष्ट है आदि।

तीसरी भूमिका में आत्म-स्वरूप का अनुप्रेक्षण कर स्वरूप रमणता प्राप्त हो जाती है और चतुर्थ भूमिका में राग-रोष को क्षय कर निर्विकल्प समाधि प्राप्त की जाती है।

ध्यान से लाभ :

ज्ञान की अपरिपक्वावस्था में जिस प्रकार एक बालक रंग-बिरंगे खिलौनों को देखते ही कुतूहलवश हठात् उनकी ओर आकर्षित हो, उन्हें प्राप्त करने के लिये मचल पड़ता है, किन्तु कालान्तर में वही प्रौढ़ावस्था को प्राप्त हो परिपक्व समझ हो जाने के कारण उन खिलौनों की ओर आँख उठाकर भी नहीं देखता। ठीक उसी प्रकार ज्ञानान्धकार से आच्छन्न मन सदा प्रतिपल विषय-कषायों की ओर आकर्षित होता रहता है, परन्तु जब मन को ध्यान-साधना द्वारा बहिर्मुखी से अन्तर्मुखी बना दिया जाता है, तो वही ज्ञान से परिष्कृत मन विषय-कषायों से विमुख हो अध्यात्म की ओर उमड़ पड़ता है और साधक ध्यान की निरन्तर साधना से अन्ततोगत्वा समस्त ग्रन्थियों का भेदन कर शाश्वत सुखमय अजरामर मोक्ष पद को प्राप्त करता है।

जैन परम्परा की विशेषता :

जैन, वैदिक और बौद्ध आदि सभी परम्पराओं में ध्यान का वर्णन मिलता है। वैदिक परम्परा में पवनजय को मनोजय का प्रमुख साधन माना गया है। उन्होंने यम-नियम आदि को ध्यान का साधन मानकर भी आसन प्राणायाम की तरह इन्हें मुख्यता प्रदान नहीं की है। योगाचार्य पतंजलि ने भी समाधि पात्र में मैत्री, करुणा मुदिता और उपेक्षा भाव से चित्त शुद्धि करने पर मनःस्थैर्य का प्रतिपादन किया है। यथा—

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्य विषयाणां भावनातश्चित्त प्रसादनम् । —योग दर्शन, समाधिपाद, सूत्र ३३

इस प्रकार का शुद्धिकरण पूर्वक स्थिरीकरण सूत्रार्थ-चिन्तन प्रथम प्रहर में और द्वितीय प्रहर में ध्यान अपेक्षित है। रात्रि के कार्यक्रम में भी इसी प्रकार का विधान किया गया है। यह ध्यान सूत्रार्थ के चिन्तन-मनन में ही हो सकता है, न कि चित्त वृत्तियों के नितान्त निरोध के रूप में।

जैन परम्परा की ध्यान परिपाटी के अनुसार किसी एक विषय पर तल्लीनता से चिन्तन करना ध्यान का प्रथम प्रकार है। इसे सविकल्प ध्यान तथा स्थिरैक भाव रूप ध्यान के दूसरे प्रकार को निर्विकल्प ध्यान कहते हैं। शुक्ल ध्यान में ही ध्यान की यह निर्विकल्प दशा हो सकती है। शरीर की अन्यान्य क्रियाओं के चलते रहने पर भी यह ध्यान निर्बाध गति से चलता रहता है, ऐसा जैन शास्त्रों का मन्तव्य है। सविकल्प ध्यान-धर्म ध्यान के आणा विजए, अवाय विजए, विवाग विजए और संठाण विजए—इन चार भेदों का उल्लेख करते हुए पहले बताया जा चुका है कि उनमें क्रमशः आज्ञा, रागादि दोषों, कर्म के शुभाशुभ फस और विश्वाधार भूत लोक के स्वरूप पर विचार विचार किया जाता है तथा निर्विकल्प शुक्ल ध्यान में आत्म-स्वरूप पर ही विचार किया जाता है।

ध्यान के प्रभेद :

प्रकारान्तर से ध्यान के अन्य प्रभेद भी किये गये हैं। जैसे—१. पिण्डस्थ, २. पदस्थ, ३. स्वरूपस्थ और ४. रूपातीत।

१. पिण्डस्थ ध्यान में—पार्थिवी आदि पंचविध धारणा में मेरुगिरि के उच्चतम शिखर पर स्थित स्फटिक-रत्न के सिंहासन पर विराजमान चन्द्रसम समुज्ज्वल अरिहन्त के समान शुद्ध स्वरूप में आत्मा का ध्यान किया जाता है।

२. दूसरे पदस्थ ध्यान में 'अर्हं' आदि मन्त्र पदों का नाभि या हृदय में अष्टदल—कमल आदि पर चिन्तन किया जाता है।

३. तीसरे रूपस्थ ध्यान में अनन्त चतुष्टय युक्त देवाधिदेव अरिहन्त का चौंतीस अतिशयों के साथ चिन्तन किया जाता है।

निराकार ध्यान को कठिन और असाध्य समझकर जो साधक किसी आकृति विशेष का आलम्बन लेना चाहते हैं, उनके लिये भी अपने इष्ट गुरुदेव की त्याग-विरागपूर्ण मुद्रा का ध्यान सरल और सुसाध्य हो सकता हैं। इस

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रकार के ध्यान में वीतराग भाव की साधना करने वाले आचार्य उपाध्याय अथवा साधु सद्गुरु का ध्यान मुद्रा या प्रवचन मुद्रा में चिन्तन करना भी रूपस्थ ध्यान का ही अंग समझना चाहिये।

४. रूपस्थ ध्यान के स्थिर होने पर अमूर्त, अजन्मा और इन्द्रियातीत परमात्मा के स्वरूप का चिन्तन करना रूपातीत ध्यान कहा जाता है। जैसा कि आचार्य शुभचन्द्र ने कहा है :—

चिदानन्दमयं शुद्ध—ममूर्त्तं परमाक्षरम् ।
स्मरेद् यत्रात्मनात्मानं, तद्रूपातीतमिष्यते ।।
—ज्ञानार्णव, स० ४०—

इस चौथे—रूपातीत ध्यान में चिदानन्दमय शुद्ध स्वरूप का चिन्तन किया जाता है।

इस प्रकार पिण्डस्थ और रूपस्थ ध्यान को साकार और रूपातीत ध्यान को निराकार ध्यान समझना चाहिये। पदस्थ ध्यान में अर्थ चिन्तन निराकार और अष्टदल-कमल आदि पर पदों का ध्यान करना साकार में अन्तर्हित होता हे।

ध्यान में शान्ति :

संसार के प्राणिमात्र की एक ही चिरकालीन अभिलाषा है—शान्ति। धन-सम्पत्ति, पुत्र, मित्र और कलत्र आदि बड़ी से बड़ी सम्पदा, विशाल परिवार और मनोनुकूल विविध भोग सामग्री पाकर भी मानव बिना शान्ति के दुःखी एवं चिन्तित ही बना रहता है। बाहर-भीतर वह इसी एक खोज में रहता है कि शान्ति कैसे प्राप्त हो, किन्तु जब तक काम, क्रोध, लोभादि विकारों का अन्तर में विलय या उन पर विजय नहीं कर लेता तब तक शान्ति का साक्षात्कार सुलभ नहीं। बिना शान्ति के स्थिरता और एकाग्रता नहीं तथा बिना एकाग्रता के पूर्ण ज्ञान एवं समाधि नहीं, क्योंकि ध्यान साधना ही शान्ति, स्थिरता और समाधि का एक मात्र रामबाण उपाय है।

उस शान्ति की प्राप्ति हेतु शास्त्रीय ध्यानपद्धति को आज हमें पुनः सक्रिय रूप देना है। प्रातःकाल के शान्त वातावरण में अर्हत् देव को द्वादशवार वन्दन कर मन में यह चिन्तन करना चाहिये—"प्रभो ! काम, क्रोध, भय और लोभादि दोषों से आप सर्वथा अलिप्त हैं। मैं अज्ञानवश इन दोषों में से किन-किन दोषों को नहीं छोड़ सका हूँ; मेरे अन्दर कौनसा दोष प्रबल है ?"

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

फिर दोषों से होने वाले अशुभ फलों का विचार कर दोष-निवारण का दृढ़ संकल्प करना, यह जीवन सुधार का चिन्तन रूप ध्यान है।

रूपस्थ ध्यान का सरलता से अभ्यास जमाने हेतु अपने शान्त-दान्त-संयमी प्रिय गुरुदेव का जिस रूप में उन्हें उपदेश एवं प्रवचन करते देखा है, उसी मुद्रा में उनके स्वरूप का चिन्तन करे कि गुरुदेव मुझे कृपा कर उपदेश कर रहे हैं, आदि। देखा गया है कि अन्तर्मन से गुरु चरणों में आत्म-निवेदन कर दोषों के लिये क्षमायाचना करते हुए भी परम शान्ति और उल्लास प्राप्त किया जा सकता है।

अपने अनुभव :

एक बार की बात है कि मैं तन से कुछ अस्वस्थ था, निद्रा नहीं आ रही थी। बरामदे में चन्द्र की चाँदनी में बाहर बैठा गुरुदेव का ध्यान करते हुये कह रहा था—"भगवन्! इन दिनों शिष्य के सुख-दुःख कैसे भूल बैठे हो! मेरी ओर से ऐसी क्या चूक हो गई, जो आपका ज्ञान प्रकाश मुझे इन दिनों प्राप्त नहीं हो रहा है? क्षमा करो गुरुदेव! क्षमा करो" कहते-कहते दो बार मेरा हृदय भर आया, नयन छलक पड़े। क्षण भर पश्चात् ही मेरे अन्तर में एक प्रकाश की लहर उठी और हृदय के एक छोर से दूसरे छोर तक फैल गई। मैं अल्पकाल के लिये आनन्द विभोर हो गया।

दूसरी एक बात नसीराबाद छावनी की है। वहाँ एक दिन शरीर ज्वर-ग्रस्त होने से निद्रा पलायन कर रही थी। सहसा सीने के एक सिरे में गहरी पीड़ा उठी। मुनि लोग निद्राधीन थे। मैंने उस वेदना को भुला देने हेतु चिन्तन चालू किया—"पीड़ा शरीर को हो रही है, मैं तो शरीर से अलग हूँ, शुद्ध, बुद्ध अशोक और निरोग। मेरे को रोग कहाँ? मैं तो हड्डी पसली से परे चेतन रूप आत्मा हूँ। मेरा रोग-शोक-पीड़ा से कोई सम्बन्ध नहीं। मैं तो आनन्दमय हूँ।"

क्षण भर में ही देखता हूँ कि मेरे तन की पीड़ा न मालूम कहाँ विलीन हो गई। मैंने अपने आपको पूर्ण प्रसन्न, स्वस्थ और पीड़ा रहित पाया। देश काल से अन्तरित वस्तु या विषय का भी ध्यान-बल से साक्षात्कार किया जा सकता है।

यह है ध्यान की अनुभूत अद्‌भुत महिमा।

□ □ □

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org